शाश्वत तीर्थधाम

सम्मेद शिखर

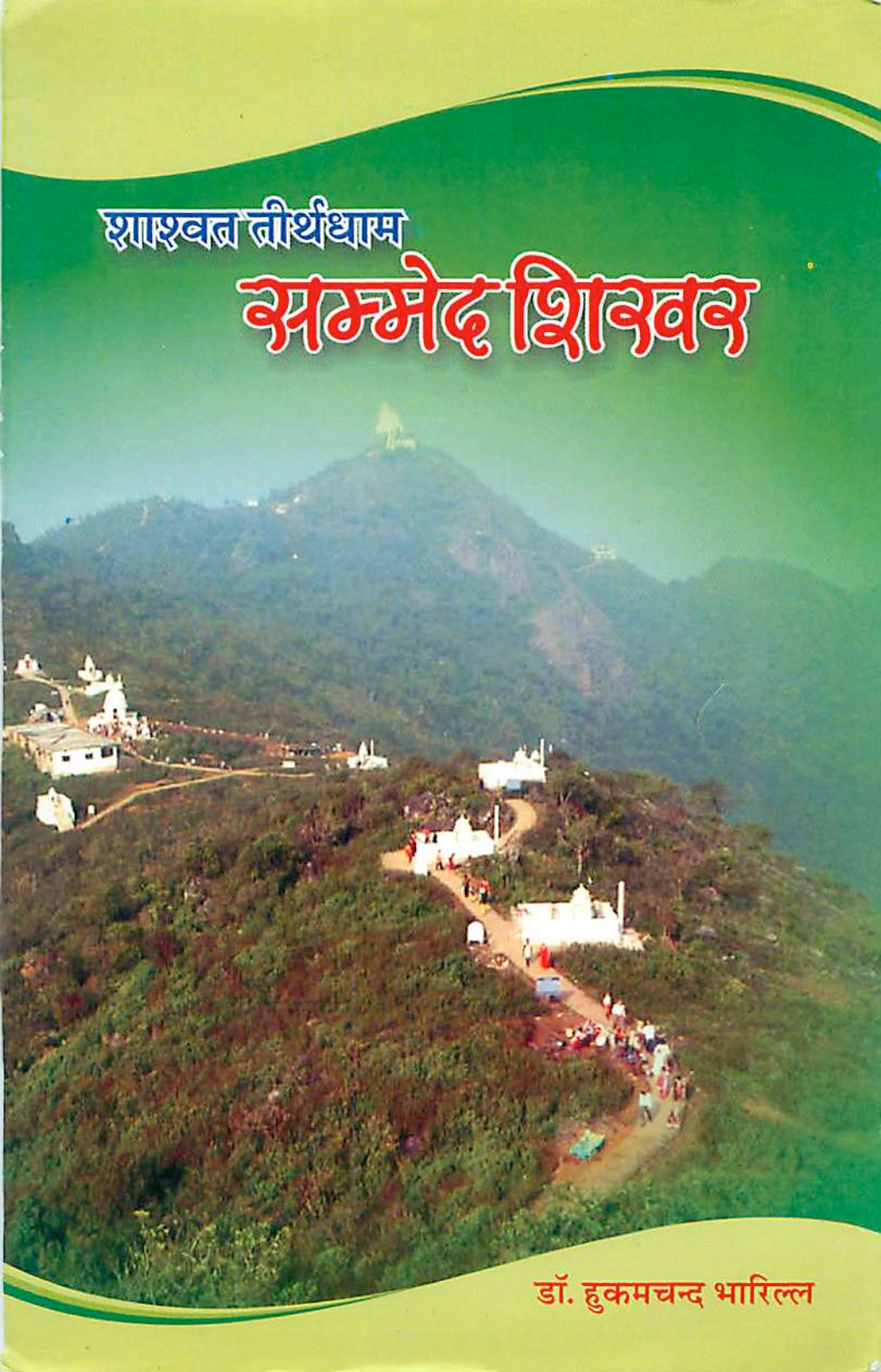

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर

लेखक :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी.

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर-15 (राज.)

फोन : 2707458, E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

हिन्दी :

प्रथम चार संस्करण	:	३३ हजार २००
(६ नवम्बर ९१ से १ सितम्बर ९४)		
पंचम संस्करण	:	२ हजार
(२६ जनवरी २००९)		
योग	:	**३५ हजार २००**

मराठी :

प्रथम संस्करण	:	५ हजार
(१ सितम्बर ९४)		
वीतराग-विज्ञान (मासिक)		
हिन्दी मराठी में	:	७ हजार ५००
(६ नवम्बर ९१ से १ सितम्बर ९४)		
महायोग :		**४७ हजार ७००**

मूल्य : ५ रुपए

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

१. श्रीमती कमलादेवी ध.प. श्री महावीरप्रसादजी छाबड़ा, जयपुर	२०१.००
२. श्री कैलाशचन्दजी जैन, ठाकुरगंज	२०१.००
३. श्रीमती पुष्पलता जैन (जीजीबाई) ध.प.श्री अजितकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा	२०१.००
४. श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	२०१.००
५. श्रीमती पतासीदेवी इन्द्रचन्द्रजी पाटनी, लॉडनू	२०१.००
६. श्रीमती श्रीकान्ताबाई धर्मपत्नी श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	२०१.००
कुल राशि :	**१२०६.००**

प्रकाशकीय

(पाँचवाँ संस्करण)

डॉ. भारिल्ल की नवीनतम कृति **''शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर''** का अल्पकाल में ही पाँचवाँ संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस कृति का प्रथम संस्करण अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन के तत्त्वावधान में श्रीमान् भभूतमलजी भण्डारी, बैंगलोर द्वारा आयोजित सम्मेदशिखर आदि सिद्ध क्षेत्रों की मंगल यात्रा एवं सम्मेदशिखर में आयोजित आध्यात्मिक शिक्षण शिविर एवं सिद्धचक्र विधान महोत्सव के अवसर पर प्रकाशित किया गया था। कुछ समय के पश्चात् ही इसका द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ संस्करण प्रकाशित करना पड़ा था, जो इस कृति की उपयोगिता का द्योतक है।

यह कोई सहज संयोग नहीं, अपितु उक्त प्रसंग से प्रेरणा पाकर ही इस कृति की रचना हुई थी। शाश्वत मूल्यों का प्रतिपादक होने से डॉ. भारिल्ल का सम्पूर्ण साहित्य यद्यपि स्थाई महत्त्व का ही साहित्य है और सर्वाधिक पढा भी जाता है; तथापि अवसर के अनुकूल समयानुसार प्रकाशित होने से उसका महत्त्व और भी बढ जाता है।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम व शाकाहार आपकी ऐसी कृतियाँ हैं, जो तत्संबंधित महत्त्वपूर्ण अवसरों पर प्रकाशित होने से सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध हुई हैं और अवसर की अनुकूलता के कारण उनका प्रचार-प्रसार भी खूब हुआ है।

सम्मेदशिखरजी में सम्पन्न होनेवाले शिक्षण-शिविरों और मंगल-यात्राओं के अनेक अवसरों पर डॉ. भारिल्ल से सम्मेदशिखर की महिमा मुमुक्षु समाज को अनेक बार सुनने को मिली है। जब-जब उनके ये प्रवचन सुने गये, तब-तब अनेक श्रोताओं से उन्हें लिपिबद्ध करने का अनुरोध मिलता रहा है; जिसे दृष्टिगत

रखते हुए डॉ. भारिल्लजी ने इस कृति का प्रणयन किया है; इसके लिए हम डॉ. भारिल्लजी के आभारी हैं।

यद्यपि यह अब तक ४५ हजार ७०० की संख्या में लोगों के हाथों में पहुँच चुकी है, परन्तु अब अनुपलब्ध हैं; अत: यह पाँचवाँ संस्करण प्रकाशित करना अनिवार्य हो गया है।

तीर्थराज सम्मेदशिखर सम्पूर्ण जैन समाज के सम्मिलन और एकता का स्थल है; क्योंकि अनेक सम्प्रदायों में विभक्त जैन समाज का यहाँ सहज ही सम्मिलन होता है और उनके परिणाम भी यात्रा के समय निर्मल होते हैं; इस कारण उनमें परस्पर सौहार्द्र बढने का सहज सुअवसर प्राप्त होता है।

परन्तु जैन समाज का दुर्भाग्य ही समझिये कि आज यह स्थल मनोमालिन्य का कारण बन रहा है। हम सबका प्रयास होना चाहिए कि हम अपने कार्यों से ऐसा वातावरण बनायें कि वातावरण एकता के अनुकूल बने। समाज के नेताओं का कर्तव्य है कि वे परस्पर एक-दूसरे की भावनाओं को ध्यान में रखते हुए ऐसा रास्ता निकालें कि जिससे दोनों संप्रदाय प्रसन्नता का अनुभव करें और सहजभाव से स्वीकार कर लें।

इसे जीत-हार का मुद्दा न बनाकर समन्वय और सहयोग के वातावरण में ऐसा हल निकालें कि जिसमें दोनों ही सम्प्रदाय जीत का अनुभव करें।

यह सब काम तब तक सम्भव नहीं है, जब तक हमारे मन निर्मल नहीं होते। हमारा विश्वास है कि डॉ. भारिल्ल की यह कृति हमारे मनों को निर्मल करने में अवश्य सहायक होगी; क्योंकि इसमें निष्पक्ष भाव से सम्मेदशिखर तीर्थराज की महिमा बताई गई है।

इस कृति का स्वाध्याय करने से अनेक भव्यात्माओं को शाश्वत तीर्थराज सम्मेदशिखर की महिमा अवश्य वृद्धिंगत होगी – हमारा ऐसा पक्का विश्वास है। सम्मेदशिखर की तीर्थयात्रा एवं इस कृति के स्वाध्याय से सभी आत्मार्थी भाई कल्याण के मार्ग पर लगें और हिल-मिल कर रहें – इस मंगल भावना के साथ विराम लेता हूँ।

२६, जनवरी २००९ ई.

ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.
प्रकाशनमंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर

एस सुरासुरमणुसिंद वंदिदं धोदघाइ कम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारम्।।१।।

(हरिगीत)

सुर-असुर-इन्द्र-नरेन्द्र-वंदित कर्ममल निर्मलकरन।
वृषतीर्थ के करतार श्री वर्द्धमान जिन शत-शत नमन।।१।।

मैं सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रों से वंदित, घातिया कर्मोंरूपी मल को धो डालनेवाले एवं धर्मतीर्थ के कर्त्ता तीर्थंकर भगवान वर्द्धमान को प्रणाम करता हूँ।

प्रवचनसार के मंगलाचरण की उक्त गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द भगवान वर्द्धमान को धर्मतीर्थ का कर्त्ता कहते हैं। तीर्थंकर शब्द की व्युत्पत्ति ही यही है कि **तीर्थं करोतीति तीर्थंकरः** – जो तीर्थ को करे, वही तीर्थंकर है।

यदि तीर्थ को करनेवाले तीर्थंकर कहलाते हैं तो फिर प्रश्न उठता है कि तीर्थ क्या है ?

जिसका आश्रय लेकर भव्यजीव संसार-सागर से पार होकर (तिरकर) मुक्ति प्राप्त करते हैं, उसे तीर्थ कहते हैं। निज भगवान आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है; इसलिए निजभगवान आत्मा ही परमतीर्थ है। जैसाकि सिद्धचक्र मण्डल विधान की निम्नांकित पंक्तियों में कहा गया है –

निज आत्मरूप सुतीर्थमग नित सरस आनन्दधार हो।
नाशे त्रिविध मल सकल दुखमय भव-जलधि के पार हो।।[१]

---

१. कविवर पंडित संतलाल : सिद्धचक्र मण्डल विधान, आठमी पूजन, जल का छन्द

उक्त पंक्तियों में निज भगवान आत्मा को सुतीर्थ कहा गया है। निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति होती है; क्योंकि निज भगवान आत्मा को जानने का नाम ही सम्यग्ज्ञान है और निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होने का नाम ही सम्यग्दर्शन है तथा निज भगवान आत्मा में लीन होने का नाम ही सम्यक्चारित्र है।

इन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकरूपता ही मुक्ति का मार्ग है, संसार-सागर से पार होने (तरने) का एकमात्र उपाय है; अत: ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी तीर्थ हैं।

उक्त संदर्भ में 'धवल' का निम्नांकित कथन दृष्टव्य है –

"धम्मो णाम सम्मद्दंसणणाणचरित्ताणि, एदेहि संसार-सायरं तरंतित्ति एदाणि तित्थं।[१]

धर्म का अर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। इनसे संसार-सागर से तरते हैं; इसलिए इन्हें तीर्थ कहा है।"

'बोधपाहुड' में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप निर्मल धर्म को तीर्थ कहा है।

'बोधपाहुड' की मूल गाथा इसप्रकार है –

"जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं।
तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि संतिभावेण।।[२]

जिनमार्ग में शान्तभाव से धारण किया हुआ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, संयम और तपरूप निर्मल धर्म ही तीर्थ है।

'धवल' और 'बोधपाहुड' के कथन में मात्र इतना ही अन्तर है कि 'धवल' में जहाँ चारित्र को ग्रहण किया है। वहाँ 'बोधपाहुड' में उसके

१. धवला पुस्तक ८, पृष्ठ-९८, सूत्र ४२ की टीका से
२. आचार्य कुन्दकुन्द : अष्टपाहुड़, बोधपाहुड़, गाथा २७

स्थान पर संयम और तप को ग्रहण किया है। संयम और तप चारित्र के ही रूप हैं; अत: उक्त दोनों कथनों में वस्तुत: कोई अन्तर नहीं रहा।

वीतरागी संतों के अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव में होनेवाली अनिवार्य निर्मल परिणति, वृत्ति और संयमित प्रवृत्ति संयम है और आत्मोन्मुखी उग्र पुरुषार्थ से नित्य वृद्धिंगत शुद्धि एवं तदनुकूल वृत्ति तथा कठोर प्रवृत्ति तप है। दोनों चारित्र के ही रूप हैं।

उक्त कथनों में जहाँ एक ओर आत्मा को तीर्थ कहा गया है, वहीं दूसरी ओर उसके आश्रय से उत्पन्न होनेवाले रत्नत्रय को तीर्थ कहा है; पर योगसार में मुनिराज श्री योगीन्दुदेव रत्नत्रय युक्त आत्मा को तीर्थ कहते हैं। उनका मूल कथन इसप्रकार है –

"रयणत्तय संजुत्तं जिउ उत्तिमुतित्थु पवित्तु।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ।।८३"

इसका हिन्दी पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

"रतनत्रय से युक्त जो वह आत्मा ही तीर्थ है।
है मोक्ष का कारण वही ना मंत्र है ना तंत्र है।।"

अत: यह सुनिश्चित हुआ कि निज भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही धर्म है, तीर्थ है, मुक्ति का मार्ग है और इसी का प्रवर्तन करनेवाले तीर्थंकर कहे जाते हैं।

तीर्थंकर भगवन्तों की उस परमपवित्र वाणी को, दिव्यध्वनि को, दिव्यध्वनि के आधार पर निर्मित सत्साहित्य को भी तीर्थ कहा जाता है; क्योंकि वह जिनवाणी भी, परमागम भी, आगम भी भव्यजीवों को संसार-सागर से पार उतारने में समर्थ निमित्त है।

उक्त संदर्भ में आचार्य पूज्यपाद के 'समाधिशतक' की संस्कृत टीका का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है –

"तीर्थकृतः संसारोत्तरणहेतुभूतत्वात्तीर्थमिव तीर्थमागमः ।[१]

जिसप्रकार तीर्थंकर संसार-सागर से पार होने के हेतु होने से तीर्थ कहे जाते हैं; उसीप्रकार आगम को भी तीर्थ कहा जाता है।

मूलाचार में द्रव्यतीर्थ और भावतीर्थ की चर्चा करते हुए समस्त जिनवरदेवों को भावतीर्थ कहा है। मूलाचार का मूलकथन इसप्रकार है –

"दुविहं च होइ तित्थं णादव्वं दव्वभाव संजुत्तं ।
एदेसिं दोण्हंपि य पत्तेय परूवणा होदि ।।
दाहोपसमणं तण्हा छेदो मलपंक पवहणं चेव ।
तिहिं कारणेहिं जुत्तो तम्हा तं दव्वदो तित्थं ।।
दंसणणाणचरित्ते णिजुत्ता जिणवरा दु सव्वेपि ।
तिहिं कारणेहिं जुत्ता तम्हा ते भावदो तित्थम् ।।[२]

द्रव्य और भाव के भेद से तीर्थ दो प्रकार का है। इन दोनों की प्ररूपणा भिन्न-भिन्न होती है।

संताप शान्त होता है, तृष्णा का नाश होता है, मलपंक की शुद्धि होती है – इन तीन कारणों से युक्त द्रव्यतीर्थ होते हैं।

सभी जिनदेव दर्शन, ज्ञान और चारित्र से युक्त होते हैं और इसीकारण वे भावतीर्थ कहे जाते हैं।"

पुरुषार्थसिद्धयुपाय में तीर्थंकरों के समान आचार्यों को भी धर्मतीर्थ का प्रवर्तक कहा गया है, जो इसप्रकार है –

---

१. जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश भाग-२, पृष्ठ ३९३
२. वही, पृष्ठ ३९३

"मुख्योपचारविवरण निरस्त दुस्तर विनेय दुर्बोधाः।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्।।[१]

निश्चय और व्यवहार के विवरण द्वारा विनयवान शिष्यों का दुर्निवार अज्ञानभाव नष्ट कर दिया है जिन्होंने; ऐसे व्यवहार और निश्चयनय के विशेषज्ञ आचार्य इस जगत में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनागम में रत्नत्रयरूप धर्म के साथ-साथ देव-शास्त्र-गुरु को भी तीर्थ माना गया है, तीर्थ का प्रवर्तक माना गया है। देव में तीर्थंकर देवों के साथ-साथ समान्य जिनवरदेवों को भी ले लिया गया है।

संसार-सागर से पार होने में साक्षात् निमित्त होने से निश्चयतीर्थ तो निज भगवान आत्मा, रत्नत्रयरूप धर्म एवं देव-शास्त्र-गुरु ही हैं; पर व्यवहार से उन परम-पवित्र स्थानों को भी तीर्थ कहा जाता है; जहाँ उक्त देव-शास्त्र-गुरुओं ने आत्माराधना की हो, शास्त्रों की रचना हुई हो, शास्त्रों का संरक्षण हुआ हो।

व्यवहारतीर्थ की चर्चा करते हुए 'बोधपाहुड' की संस्कृत टीका में लिखा है –

"तज्जगतप्रसिद्धं निश्चयतीर्थप्राप्तिकारणं मुक्तमुनिपादस्पृष्टं तीर्थ ऊर्जयन्त शत्रुंजय लाटदेश पावागिरि.....तीर्थंकर पंचकल्याणस्थानानि चैत्यादिमार्गे यानि तीर्थानि वर्तन्ते तानि कर्मक्षयकारणानि वन्दनीयानि।[२]

निश्चयतीर्थ की प्राप्ति का जो कारण है, ऐसे जगत्प्रसिद्ध तथा मुक्त जीवों के चरण-कमलों से स्पर्शित ऊर्जयन्त, शत्रुंजय, लाटदेश, पावागिरि आदि व्यवहारतीर्थ हैं।.....ये तीर्थंकरों के पंचकल्याणक के स्थान हैं। ये

---

१. आचार्य अमृतचन्द्र : पुरुषार्थसिद्धयुपाय, छन्द ४
२. जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश भाग-२, पृष्ठ ३९३

जितने भी तीर्थ पृथ्वी पर वर्त रहे हैं, वे सब कर्मक्षय के कारण होने से वन्दनीय हैं।''

जहाँ निज भगवान आत्मा की आराधना की जाती है, जहाँ रत्नत्रयधर्म की साधना की जाती है, जहाँ से तीर्थंकरादि ने निर्वाण प्राप्त किया है, जहाँ तीर्थंकरों के पंचकल्याणक हुए हैं, जहाँ आगम और परमागम लिखे गये हैं, जहाँ वीतरागी सन्तों का विहार होता है, जहाँ वे सन्त आत्मसाधना करते हैं; उन सभी परम-पवित्र स्थानों को तीर्थ कहा जाता है।

आज तो सम्पूर्ण जगत मूलत: उन सम्मेदशिखर आदि को ही तीर्थ मानता है, तीर्थों के नाम पर उनकी ही यात्रा करता है, आत्माराधना करता है; यह जानता तक नहीं है कि भगवान आत्मा भी तीर्थ है, रत्नत्रय रूप धर्म भी तीर्थ है, जिनदेव भी तीर्थ हैं, जिनवाणी भी तीर्थ है और जिनमंदिर भी तीर्थ हैं।

स्थान की मुख्यता होने से इन्हें तीर्थक्षेत्र भी कहते हैं। विभिन्न कारणों से स्थापित होने के कारण इन्हें अनेक वर्गों में विभाजित किया जाता है। जैसे – सिद्धक्षेत्र, अतिशयक्षेत्र, कलाक्षेत्र, कल्याणकक्षेत्र आदि।

जहाँ से तीर्थंकर या अन्य सामान्य केवली मुक्त हुए हैं, उन्हें सिद्धक्षेत्र कहा जाता है। जहाँ से तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों में से एक या एकाधिक कल्याणक हुए हों, उन्हें कल्याणक तीर्थ कहते हैं। कुछ स्थान विशाल जिनबिम्बों के कारण भी तीर्थ कहे जाने लगते हैं। जैनबद्री को गोम्मटेश्वर बाहुबली की विशाल मूर्ति के कारण ही तीर्थ कहा जाता है। इसीप्रकार मूड़बद्री को रत्नों के जिनबिम्बों के कारण और धवलादि ग्रन्थों की मूल प्रतियों के संरक्षण के कारण तीर्थ माना जाता है। खजुराहो और देवगढ अपनी कलात्मकता के कारण तीर्थ कहे जाते हैं। वे कलातीर्थ के रूप में ही प्रसिद्ध हैं।

कुछ तीर्थक्षेत्र आश्चर्यजनक घटनाओं से संबंधित होने के कारण अतिशय क्षेत्रों के नाम से जाने जाते हैं। महावीरजी (चांदनपुर), पद्मप्रभजी (बाड़ा), चन्द्रप्रभजी (तिजारा) आदि इसीप्रकार के क्षेत्र हैं।

आजकल विभिन्न कारणों से कुछ नये तीर्थ भी विकसित हो रहे हैं।

इसप्रकार कुल मिलाकर भारतवर्ष में तीन सौ से अधिक तीर्थक्षेत्र हैं और दस हजार से अधिक जिनमंदिर हैं, जो धर्माराधना के परम पवित्र धर्मस्थल हैं। ये सभी तीर्थक्षेत्र और जिनमंदिर जैन संस्कृति के आधार-स्तम्भ हैं, जैनसमाज की श्रद्धा के केन्द्रबिन्दु हैं, सामाजिक एकता और अखण्डता के सशक्त आधार हैं।

इन्हीं के कारण उत्तर भारत की समाज पूर्व, पश्चिम और दक्षिण भारत का भ्रमण करती है; दक्षिण भारत की समाज भी पूर्व, पश्चिम और उत्तर भारत का भ्रमण करती है। इसीप्रकार पूर्वी भारत की समाज उत्तर दक्षिण और पश्चिम की यात्रा करती है और पश्चिमी भारत की समाज उत्तर, दक्षिण और पूर्वी भारत की यात्रा करती है।

जैनसमाज की यात्रा के केन्द्रबिन्दु हैं, पूर्व के सम्मेदशिखर आदि सिद्धक्षेत्र और उदयगिरि-खण्डगिरि की गुफाएँ; पश्चिम के गिरनार और शत्रुंजय आदि तीर्थ, उत्तर के हस्तिनापुर आदि; दक्षिण के जैनबद्री, मूड़बद्री तथा मध्य भारत के खजुराहो और देवगढ जैसे कलातीर्थ आदि।

इन्हीं केन्द्रबिन्दुओं को स्पर्श करती हुई भारतवर्ष की जैन समाज अपनी यात्रओं के माध्यम से परस्पर मिलती-जुलती है और साधर्मी वात्सल्य को वृद्धिंगत करती रहती है। ये तीर्थक्षेत्र ही सुदूरवर्ती क्षेत्रों में रहनेवाले साधर्मी भाई-बहनों के सम्मिलन के एकमात्र साधन हैं; जो न केवल सामाजिक एकता को बल प्रदान करते हैं, अपितु राष्ट्रीय अखण्डता के भी सेतु हैं।

वैसे तो सभी तीर्थ परम-पावन ही हैं; तथापि उन तीर्थों की महिमा

विशेष है, जो तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों से संबंधित हैं; क्योंकि तीर्थंकर ही तो जैनदर्शन और धर्म के सूत्रधार हैं। कल्याणक तीर्थों में भी वे तीर्थ अधिक महत्त्व रखते हैं, जो तीर्थंकरों की निर्वाणभूमि हैं; क्योंकि निर्वाण ही तो अन्तिम लक्ष्य है, परम साध्य है।

सम्मेदशिखर वर्तमान चौबीसी के बीस तीर्थंकरों की निर्वाणभूमि होने से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सर्वश्रेष्ठ तीर्थराज है।

तीर्थंकरों की निर्वाणभूमियों की चर्चा करते हुए मंगलाष्टक में एक छन्द आता है, जो इसप्रकार है –

"कैलासे वृषभस्य निवृति मही वीरस्य पावापुरे।
चंपायां वसुपूज्य सज्जिनपतेः सम्मेद शैलेऽर्हताम्।।
शेषाणामपि चोर्जयन्तशिखरे नेमीश्वरस्यार्हतो।
निर्वाणावनयः प्रसिद्धविभवाः कुर्वन्तु ते मंगलम्।।

निर्वाणकाण्ड (प्राकृत) में उक्त चर्चा इसप्रकार की गई है –

"अट्ठावयम्मि उसहो, चंपाए वासुपूज्य जिणणाहो।
उज्जंते णेमि जिणो पावाए णिव्वुदो महावीरो।।
वीसं तु जिणवरिंदा अमरासुर वंदिदा धुदकिलेसा।
सम्मेदे गिरिसिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं।।"

उक्त प्राकृत भाषा के निर्वाणकाण्ड के उक्त छन्द का निर्वाणकाण्ड भाषा में हिन्दी छन्दानुवाद इसप्रकार किया गया है –

(चौपाई)

"अष्टापद आदीश्वर स्वामि, वासुपूज्य चम्पापुरि नामि।
नेमिनाथ स्वामी गिरनार, वंदौ भाव भगति उरधार।।
चरम तीर्थंकर चरम शरीर, पावापुर स्वामी महावीर।
शिखर सम्मेद जिनेश्वर बीस, भावसहित वंदो निशदीश।।"

उक्त छन्दों में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ भगवान कैलाश पर्वत से, बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य भगवान चम्पापुर से, बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान गिरनार पर्वत से एवं चौबीसवें तीर्थंकर महावीर भगवान पावापुरी से मोक्ष गये हैं तथा वर्तमान चौबीसी के शेष बीस तीर्थंकर भगवान सम्मेदशिखर से मोक्ष गये हैं।

न केवल बीस तीर्थंकर, अपितु असंख्य मुनिराजों ने भी सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया है। इसकारण भी यह तीर्थराज महान् है।

उक्त संदर्भ में निम्नांकित छन्द भी द्रष्टव्य है –

(दोहा)

"सिद्ध क्षेत्र तीरथ परम है उत्कृष्ट सुथान।
शिखर सम्मेद सदा नमूं होय पाप की हानि।।
अगनित मुनि जहं तैं गये लोक शिखर के तीर।
तिनके पदपंकज नमूं नाशे भव की पीर।।[१]"

सम्मेदशिखर न केवल तीर्थराज है, अपितु शाश्वत तीर्थधाम है; क्योंकि वहाँ से न केवल वर्तमान चौबीसी के बीस तीर्थंकरों का निर्वाण हुआ है; अपितु अबतक वहाँ से असंख्य तीर्थंकरों व मुनिराजों का निर्वाण हो चुका है और भविष्य में भी अगणित तीर्थंकरों व मुनिराजों का निर्वाण होनेवाला है।

यह तो आप जानते ही हैं कि भरतक्षेत्र में अबतक अगणित चौबीसियाँ हो गई हैं और भविष्य में भी होंगी तथा यह सुनिश्चित है कि भरतक्षेत्र के प्रत्येक तीर्थंकर का जन्म अयोध्या में होता है और प्रत्येक ही तीर्थंकर का निर्वाण सम्मेदशिखर से होता है।

इसप्रकार यह तीर्थराज अगणित तीर्थंकरों और उनसे भी असंख्यगुणे

---

१. सम्मेदशिखर पूजन, छन्द-१-२

मुनिराजों का निर्वाणस्थल होने से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तीर्थराज तो है ही; भविष्य में भी वहाँ से अगणित तीर्थंकर और उनसे भी असंख्यगुणे मुनिराज मोक्ष जावेंगे; अतः यह शाश्वत तीर्थधाम भी है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब भरतक्षेत्र में सभी तीर्थंकर सम्मेदखिर से ही मोक्ष जाते हैं तो फिर वर्तमान चौबीसी के चार तीर्थंकर अन्य स्थानों से मोक्ष क्यों गये ?

वर्तमान चौबीसी के कुछ तीर्थंकरों का जन्म यदि अयोध्या में नहीं हुआ और निर्वाण सम्मेदशिखर से नहीं हुआ तो इसका एकमात्र कारण हुण्डावसर्पिणी का अपवाद है।

असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के बाद एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है, जिसमें इसप्रकार के अनेक अपवाद होते हैं। तीर्थंकरों के पुत्री का जन्म होना, चक्रवर्ती का अपमान होना आदि भी इसी हुण्डावसर्पिणी के अपवाद हैं।

इस संदर्भ में पार्श्वपुराण का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है –

(चौपाई)

"अवसर्पनि उतसर्पनि काल होंहि अनंतानंत विशाल।
भरत तथा ऐरावत माहिं रहट घटीवत आवे जाहिं।।
जब ये असंख्यात परमान बीते जुगम खेत भूथान।
तब हुंडावसर्पिणी एक परै करै विपरीत अनेक।।[१]"

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप कालचक्र के स्वरूप को समझने के लिए लेखक की अन्य कृति **"तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ"** का निम्नांकित कथन उपयोगी है –

"समय अपने को दुहराता है, यह एक प्राकृतिक नियम एवं वैज्ञानिक

---

१. कविवर भूधरदास : पार्श्वपुराण, पृष्ठ ६५

व्यवस्था है। जिसप्रकार दिन-रात, पक्ष-मास, ऋतुयें और वर्ष अपने को दुहराते हैं; उसीप्रकार शताब्दियाँ, सहस्राब्दियाँ आदि का संख्यातीत काल भी किन्हीं प्राकृतिक नियमों के द्वारा अपने को दुहराते हैं। कालचक्र के इस परिवर्तन में स्वाभाविक उतार-चढाव आते हैं, जिन्हें जैन परिभाषा में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के नाम से जाना जाता है।

जहाँ उत्सर्पिणी क्रमशः बढता जाता है और अवसर्पिणी में उसी क्रम से घटता जाता है। इसप्रकार यदि उत्सर्पिणी बढने का नाम है तो अवसर्पिणी घटने का। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों में प्रत्येक का काल दस-दस कोड़ा-कोड़ी सागर है। इसप्रकार कुल मिलाकर बीस कोड़ा-कोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। प्रत्येक कल्पकाल में तीर्थंकरों की दो चौबीसी होती हैं।

अवसर्पिणी काल के छह भेद हैं (१) सुखमा-सुखमा (२) सुखमा (३) सुखमा-दुखमा (४) दुखमा-सुखमा (५) दुखमा (६) दुखमा-दुखमा।

इसीप्रकार उत्सर्पिणी भी छह प्रकार का होता है – (६) दुखमा-दुखमा (५) दुखमा (४) दुखमा-सुखमा (३) सुखमा-दुखमा (२) सुखमा (१) सुखमा-सुखमा।

उक्त कालों में सुख-दुख की स्थिति उनके नामानुसार ही होती है। यहाँ सुख शब्द लौकिक सुख (भोग) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तृतीय काल तक भोग की ही प्रधानता रहती है, यहाँ तक कि आध्यात्मिक उन्नति के तो अवसर ही प्राप्त नहीं होते। तीर्थंकरों की उत्पत्ति चतुर्थकाल में ही होती है और मुक्ति मार्ग में भी चतुर्थकाल में ही चलता है। इस दृष्टि से चतुर्थकाल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तृतीयकाल के अन्त में चौदह कुलकर होते हैं और चतुर्थ काल में त्रेसठ शलाका के महापुरुष।

त्रेसठ शलाका के महापुरुष निम्नानुसार हैं – २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र।

वर्तमान में अवसर्पिणी काल का पंचमकाल चल रहा है। इसमें न तो कुलकर ही होते हैं और न त्रेसठ शलाका महापुरुषों की उत्पत्ति ही होती है। किसी को मुक्ति (मोक्ष) की भी प्राप्ति नहीं होती है। चतुर्थकाल में जो त्रेसठ शलाका के महापुरुष हुए हैं, विशेषकर उनके चरित्रों का वर्णन ही जैन पुराणों का कथ्य है। इसप्रकार अनन्त कल्पकाल बीत चुके हैं और भविष्य में भी अनन्त होंगे। तदनुसार तीर्थंकरों की अनन्त चौबीसियाँ इस भरतक्षेत्र में हो चुकी हैं और भविष्य में अनन्त और होंगी। ऐसी ही व्यवस्था ऐरावत क्षेत्र की है। विदेह क्षेत्र की व्यवस्था इससे कुछ भिन्न प्रकार की है। वहाँ सदा चतुर्थकाल जैसी स्थिति रहती है।[१]''

शाश्वत तीर्थराज सम्मेदशिखर की महिमा के संदर्भ में एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि जो भी तीर्थंकर या मुनिराज जहाँ से मुक्त होते हैं, सिद्धशिला में ठीक उसके ऊपर ही अनन्तकाल तक विराजमान रहते हैं; क्योंकि मुक्त जीवों की गति (गमन) अविग्रहा (बिना मोड़वाली) ही होती है।

जब हम तीर्थराज सम्मेदशिखर की वंदना कर रहे होते हैं तो हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि जहाँ हम खड़े हैं; ठीक उसके ऊपर ही अनन्त सिद्ध विराजमान हैं; मानों हमारे मस्तक पर ही अनन्त सिद्ध विराजमान हैं। इस विचार से हमें अवश्य रोमांच होगा, हम आनन्दविभोर हो उठेंगे, हमारे परिणामों में निर्मलता आवेगी, हमारी यात्रा सफल हो जावेगी, सार्थक हो जावेगी।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि शास्त्रों में तो यह आता है कि ४५ लाख

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ–२३–२४

योजन की सिद्धशिला में एक इंच भी स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ सिद्ध भगवान विराजमान न हों। यह तो निश्चित ही है जो जहाँ से सिद्ध होता है, वह उसी की सीध में सिद्धशिला में विराजमान होता है। ऐसी स्थिति में तो सम्पूर्ण ढाईद्वीप ही सिद्धक्षेत्र हो गया। ऐसा कोई स्थान ही नहीं रहा कि जहाँ से कोई न कोई जीव सिद्ध नहीं हुआ हो। अत: सम्मेदशिखर की भूमि की अन्य भूमि से क्या विशेषता रही ?

भाई, बात तो यही है कि ढाईद्वीप में सभी स्थान सिद्धक्षेत्र हैं; पर शिखर सम्मेद की भूमि के ऊपर के स्थान में सिद्धों की संख्या बहुत अधिक है; क्योंकि वहाँ एक-एक सिद्ध की अवगाहना में अनेकानेक सिद्ध समाहित हैं। दूसरी बात यह है कि सम्मेदशिखर सामान्य मुनिराजों की ही नहीं, अनन्त तीर्थंकरों की भी निर्वाणभूमि है। अत: वह तीर्थराज है और उसके विशेष महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

यह शाश्वत तीर्थराज सम्मेदशिखर भारतवर्ष के झारखण्ड नामक प्रदेश में गिरीडीह नामक नगर के निकट स्थित है। यह पर्वतराज समुद्र की सतह से ४२७९ फीट की ऊँचाई पर स्थित है; जो लगभग १२८४ मीटर होता है। पर्वतराज का यह भाग आयताकार ४० वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ है।

पर्वत के शिखर पर २४ तीर्थंकरों के चरणचिन्ह हैं। इन चरणचिन्हों की वंदना करने के लिए यात्रियों को १० किलोमीटर चलकर पर्वत पर चढना होता है; तब १७वें तीर्थंकर कुन्थुनाथ भगवान की पहली टोंक पर पहुँचते हैं। उसके बाद सभी टोंकों की वन्दना करने के लिए १० किलोमीटर चलना पड़ता है, चढना-उतरना पड़ता है। अन्त में २३वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की टोंक आती है। इसके बाद नीचे आने के लिए १० किलोमीटर उतरना होता है। इसप्रकार कुल मिलाकर ३० किलोमीटर की यात्रा हो जाती है।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि यह रास्ता कोई समतल भूमि का साफ-सुथरा सुव्यवस्थित रास्ता नहीं है; अपितु पर्वत की चढाई और उतार का ककरीला-पथरीला अव्यवस्थित मार्ग है, जिस पर यात्री नंगे पैरों चढते-उतरते हैं। इसे टुकड़ों में भी पार करना सम्भव नहीं है, अपितु एक बार में ही पूरी यात्रा करना अनिवार्य होता है; क्योंकि ऊपर या बीच में कहीं भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ ठहरा जा सके या रात बिताई जा सके।

यदि ऐसी कोई व्यवस्था की भी जावे, तब भी कोई व्यक्ति वहाँ ठहरेगा नहीं; क्योंकि सभी यात्री पर्वत पर मल-मूत्र का क्षेपण करना पाप समझते हैं।

इतना सबकुछ होने पर भी प्रतिदिन हजारों यात्री इस पर्वत पर सिद्धों की वंदना करने जाते हैं और भक्तिभाव से वंदना करते हैं; भावना के बल से सबकुछ सहज सम्पन्न हो जाता है।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि जब छठे काल के अन्त में प्रलय होता है तो सबकुछ अस्त-व्यस्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में यह कहना कैसे सम्भव है कि यह स्थान वही है; जहाँ से अनन्त तीर्थंकर मोक्ष गये हैं।

प्रलय के उपरान्त भी कुछ चिन्ह अवशेष रहते हैं, जिनके अनुसार इन्द्र अयोध्या और सम्मेदशिखर को पुनः व्यवस्थित करता है। अतः यह सुनिश्चित ही है कि यह वही स्थान है, जहाँ से अनन्त तीर्थंकरों का मोक्ष सुनिश्चित है।

इसप्रकार की शंका तीर्थंकरों के मुक्तिस्थल के संदर्भ में भी की जाती है; पर उक्त संदर्भ में भी कोई शंका-आशंका की गुंजाइश नहीं है; क्योंकि जिस स्थान विशेष से तीर्थंकर मोक्ष जाते हैं; वहाँ भी इन्द्र निर्वाण पूजा के लिए चिन्ह बना देता है।

आचार्य समन्तभद्र ने स्वयंभूस्तोत्र में नेमिनाथ भगवान की स्तुति

करते हुए इस बात के संकेत दिये हैं कि इन्द्र ने गिरनार पर्वत पर बज्र से मुक्ति स्थान को चिह्नित किया था।

अत: यह सुनिश्चित ही समझना चाहिए कि जहाँ जो चरणचिन्ह हैं, वे स्थान मूलरूप से वे ही हैं।

इसप्रकार की श्रद्धा रहने से उक्त स्थान पर पहुँचने पर सहज निर्मलभाव होते हैं, भक्तिभाव विशेष उमड़ता है, वैराग्यभाव जागृत होता है, आत्मकल्याण करने की भावना प्रबल होती है, भावनाओं का विशेष परिपाक होता है।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि हमारे जितने भी सिद्धक्षेत्र हैं, वे सभी प्राय: पर्वतों की चोटियों पर ही हैं; जबकि वैष्णव धर्म के क्षेत्र लगभग समतल भूमियों पर हैं। गंगा के किनारे हैं, समुद्र के किनारे हैं, समतल भूमि पर जो सुविधाएँ हो सकती हैं, वे सुविधायें पर्वत की चोटियों पर कैसे सम्भव हैं ?

गंगा के किनारे या समुद्र के किनारे जो निर्माण कार्य होगा या मंदिर बनवाये जावेंगे; उनमें जलादि की सहज उपलब्धि होने से व समतल भूमि होने से कम से कम व्यय होगा, श्रम भी कम से कम होगा; पर जब किसी पर्वत की चोटी पर निर्माण कार्य होगा; मंदिर बनाया जायेगा तो सौगुना व्यय होगा; क्योंकि नीचे से ऊपर सीमेन्ट की बोरी ले जाने में ही मूल कीमत से भी चौगुनी मजदूरी लगती है।

प्रत्येक वस्तु नीचे से ले जानी होती है। इसकारण बहुत तकलीफ होती है, व्यय भी अधिक होता है, साज-संभार भी कठिन होती है।

पर्वत शिखर के ये ऊबड़-खाबड़ रास्ते कठिनाइयों से भरे होते हैं। पहले तो लोगों को थोड़ा-बहुत चलने का अभ्यास भी होता था, पर आजकल तो चलने का अभ्यास भी नहीं रहा है। यदि कोई थोड़ा-बहुत

चलता भी है, तो साफ-सुथरे सपाट रास्तों पर ही चलता है; ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर तो किसी का चलना होता ही नहीं है। अत: आज ये यात्राएँ बहुत ही कठिन हो गई हैं।

अत: एक प्रश्न लोगों के दिमाग में सहज ही उत्पन्न होता है कि श्रमण संस्कृति के ये तीर्थ आखिर पर्वत की चोटियों पर ही क्यों हैं ? इनका निर्माण पर्वत की चोटियों पर ही क्यों किया गया, समतल भूमि पर क्यों नहीं ? यात्रियों की सुविधाओं का भी तो कुछ ध्यान रखा जाना चाहिए था। ये तीर्थस्थान जितने भी सुलभ होते, सामान्य लोग उनका उतना ही अधिक लाभ उठा सकते थे। धर्म तो सर्व सुलभ होना चाहिए, सहज सुलभ होना चाहिए, सबकी पकड़ में होना चाहिए।

अरे भाई ! यह प्रश्न तो तब खड़ा होता था कि जब किसी ने बुद्धिपूर्वक इन तीर्थों का निर्माण किया होता। ये तो सहज ही बन गये हैं। हमारे तीर्थंकरों ने, साधु-सन्तों ने जहाँ आत्माराधना की, आत्मसाधना की; जहाँ वे ध्यानस्थ हो गये; वे ही स्थान तीर्थ बन गये।

वैष्णव परम्परा के साधुजन गंगा के किनारे अपना स्थान बनाते हैं, समुद्र के किनारे अपना स्थल बनाते हैं; अत: उनके तीर्थ गंगा के किनारे बन गये, सागरतट पर बन गये और हमारे साधुजन पर्वतों की चोटियों पर निर्जन वन में आत्मसाधना करते हैं; अत: हमारे तीर्थस्थान निर्जन वन-प्रान्त व पर्वत की चोटियाँ बन गईं। इसमें कोई क्या कर सकता है ?

जब यह बात कही जाती है तो एक प्रश्न फिर खड़ा हो जाता है कि हमारे तीर्थंकरों ने, हमारे सन्तों ने, आत्मसाधना के लिए ऐसे निर्जन स्थान ही क्यों चुने ?

इसलिए कि हमारा धर्म वीतरागी धर्म है, आत्मज्ञान और आत्मध्यान का धर्म है। आत्मध्यान के लिए एकान्त स्थान ही सर्वाधिक उपयोगी

होता है। जैसा एकान्त इन पर्वत की चोटियों पर उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र कहीं भी नहीं।

कुछ लोग समझते हैं कि पर्वत की चोटी पर जेठ की दुपहरी में कठोर तपस्या करने से, शरीर को सुखाने से कर्मों का नाश होता है; पर इस बात में कोई दम नहीं है; क्योंकि देह को सुखाने से कर्म नहीं कटते, कर्मों का नाश तो आत्माराधना से होता है, आत्मसाधना से होता है। आत्मसाधना और आत्माराधना आत्मज्ञान और आत्मध्यान के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

पर और पर्याय से भिन्न त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा के जानने का नाम ही आत्मज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है; उसमें ही अपनापन स्थापित होने का नाम सम्यग्दर्शन है और उसमें ही लीन हो जाने, समा जाने का नाम सम्यक्चारित्र है। यह सम्यक्चारित्र वस्तुतः तो आत्मध्यानरूप ही होता है। इसमें शरीर के सुखाने का कहीं कोई स्थान नहीं है।

यदि यह बात है तो फिर वही प्रश्न उभर कर आता है कि हमारे तीर्थंकर और साधुजनों ने ऐसा स्थान और इतना प्रतिकूल वातावरण ध्यान के लिए क्यों चुना ? हम देखते हैं कि सम्मेदशिखर के जिस स्थान से तीर्थंकरों ने मुक्ति प्राप्त की है; वहाँ कहीं-कहीं तो इतना ही स्थान नहीं है कि कोई दूसरा व्यक्ति खड़ा भी हो सके। चोटियों को देखकर लगता है कि सभी स्थान लगभग ऐसे ही रहे होंगे। यह बात अलग है कि आज हमने अपनी सुविधा के लिए उन्हें कुछ इसप्रकार परिवर्तित कर दिया है कि जिससे कुछ लोग वहाँ एकत्रित हो जाते हैं।

वस्तुतः बात यह है कि हमारे सन्त ध्यान के लिए, बैठने के लिए भी ऐसा ही स्थान चुनते हैं कि जहाँ बगल में कोई दूसरा व्यक्ति बैठ ही न सके; क्योंकि बगल में यदि कोई दूसरा बैठेगा तो वह बात किए बिना नहीं रहेगा और वे किसी से बात करना ही नहीं चाहते हैं। बातचीत पर से

जोड़ती है और पर का सम्पर्क ध्यान की सबसे बड़ी बाधा है।

एक तो कोई व्यक्ति पर्वत की इतनी ऊँचाई पर जायेगा ही नहीं, जायेगा भी तो जब उसे बगल में बैठने की जगह ही न होगी, तब बगल में बैठेगा कैसे ? इसप्रकार पर्वत की चोटी पर उन्हें सहज ही एकान्त उपलब्ध हो जाता है।

इसीप्रकार वे तेज धूप में भी किसी वृक्ष की छाया में न बैठकर ध्यान के लिए पूर्ण निरावरण धूप में ही बैठते हैं। तपती जेठ की दुपहरी में यदि किसी सघन वृक्ष की छाया में बैठेंगे तो न सही कोई मनुष्य, पर पशु-पक्षी ही अगल-बगल में आ बैठेंगे। उनके द्वारा भी आत्मध्यान में बाधा हो सकती है। इस बाधा से बचने के लिए ही वे धूप में बैठते हैं, धूप से कर्म जलाने के लिए नहीं।

हमारे तीर्थंकर, हमारे मुनिराज निर्जन वनों में ही क्यों रहते हैं; वनवासी ही क्यों होते हैं, नगरवासी क्यों नहीं ? क्योंकि यदि वे नगर में रहते तो हमारे तीर्थ नगरों में ही होते, वन में नहीं, पर्वतों पर नहीं; फिर हमें भी अपने तीर्थों पर सभी सुख-साधन सहज ही उपलब्ध रहते, फिर तो हमारी यात्रा भी पिकनिक का आनन्द देती, पिकनिक जैसी आनन्ददायक होती; आज जैसी थका देनेवाली नहीं।

अरे भाई ! तीर्थयात्रा आत्मकल्याण की भावना से की जाती है या पिकनिक मनाने के लिए ? यदि पिकनिक ही मनाना है तो उसके लिए तो और भी अनेक स्थान हो सकते हैं, तीर्थस्थानों को ही क्यों अपवित्र करना चाहते हो ? आमोद-प्रमोद और भोग-विलास से तो तीर्थों की पवित्रता भंग होती है। तीर्थयात्रा वैराग्यभावना की वृद्धि के लिए की जाती है, आमोद-प्रमोद के लिए नहीं। तीर्थ को आमोद-प्रमोद का स्थान बनाना धर्म नहीं, धर्म पर आघात है। अब रही मुनिराजों के वन में रहने की

बात, सो उक्त संदर्भ में लेखक की अन्य कृति पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव का निम्नांकित अंश द्रष्टव्य है –

"वनवासी मुनिराज नगरवासी गृहस्थों की संगति से जितने अधिक बचे रहेंगे, उतनी ही अधिक आत्मसाधना कर सकेंगे। इसीकारण तो वे नगरवास का त्याग कर देते हैं; वन में रहते हैं; मनुष्यों की संगति की अपेक्षा वनवासी पशु-पक्षियों की संगति उन्हें कम खतरनाक लगती है; क्योंकि पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े भले ही थोड़ी-बहुत शारीरिक पीड़ा पहुँचावे, पर वे व्यर्थ की चर्चायें कर उपयोग को खराब नहीं करते। गृहस्थ मनुष्य तो व्यर्थ की लौकिक चर्चाओं से उनके उपयोग को भ्रष्ट करते हैं। जिस राग-द्वेष से बचने के लिए वे साधु हुए हैं, उन्हें ये गृहस्थ येनकेनप्रकारेण उन्हीं राग-द्वेषों में उलझा देते हैं। तीर्थों के उद्धार के नाम पर उनसे चन्दे की अपील करावेंगे, पंच-पंचायतों में उलझावेंगे, उनके सहारे अपनी राजनीति चलावेंगे, उन्हें भी किसी न किसी रूप में अपनी राजनीति में समायोजित कर लेंगे।

इन गृहस्थों से बचने के लिए ही वे वनवासी होते हैं, पर आहार एक ऐसी आवश्यकता है कि जिसके कारण उन्हें इन गृहस्थों के सम्पर्क में आना ही पड़ता है। अत: सावधानी के लिए उक्त नियम रखे गये हैं। एक तो यह कि जब वे आहार के विकल्प से नगर में आते हैं तो मौन लेकर आते हैं, दूसरे खड़े-खड़े ही आहार करते हैं; क्योंकि गृहस्थों के घर में बैठना उचित प्रतीत नहीं होता। गृहस्थों का सम्पर्क तो जितना कम हो, उतना अच्छा है। दूसरों से कटने का मौन सबसे सशक्त साधन है; वे उसे ही अपनाते हैं।

दूसरे, उन्हें इतनी फुर्सत कहाँ है कि बैठकर शान्ति से खावें। उन्हें तो शुद्ध सात्विक आहार से अपने पेट का खड्डा भरना है, वह भी आधा-अधूरा; शान्ति से बैठकर धीरे-धीरे भरपेट खाने में समय बर्बाद करना

उन्हें इष्ट नहीं है। जब हम भी किसी काम की जल्दी में होते हैं तो कहाँ ध्यान रहता है स्वाद का ? उन्हें भी गृहस्थ के घर से भागने की जल्दी है, सामायिक में बैठने की जल्दी है, आत्मसाधना करने की जल्दी है।

बच्चों का मन भी जब खेल में होता है तो वे भी कहाँ शान्ति से बैठकर खाते हैं। माँ के अति अनुरोध पर खड़े-खड़े थोड़ा-बहुत खाकर खेलने भागते हैं। मन तो खेल में है, उन्हें खाने की फुर्सत नहीं। उसीप्रकार हमारे मुनिराजों का मन तो आत्मध्यान में है, उन्हें शान्ति से बैठकर खाने की फुर्सत कहाँ है ?

इसीप्रकार भरपेट खाने के बाद आलस का आना स्वाभाविक ही है। अत: जिन मुनिराजों को आहार से लौटने पर छह घड़ी तक सामायिक करनी है, उन्हें प्रमाद बढाने वाला भरपेट भोजन कैसे सुहा सकता है ?

जब छात्रों की परीक्षाएँ होती हैं, इसकारण उन्हें देर रात तक पढना होता है, तब वे भी शाम का भोजन अल्प ही लेते हैं। इसकारण मुनिराजों का आहार अल्पाहार ही होता है। वे तो मात्र जीने के लिए शुद्ध-सात्त्विक, अल्प आहार लेते हैं। वे आहार के लिए नहीं जीते, जीने के लिए आहार लेते हैं। भरपेट आहार कर लेने पर पानी भी पूरा नहीं पिया जायेगा और बाद में प्यास लगेगी। वे तो भोजन के समय ही पानी लेते हैं, बाद में तो पानी भी नहीं पीते। पानी की कमी के कारण भोजन भी ठीक से नहीं पचेगा और कब्ज आदि अनेक रोग आ घेरेंगे। ऐसी स्थिति में आत्मसाधना में भी बाधा पड़ेगी। अत: वे अल्पाहार ही लेते हैं।

हाथ में आहार लेने के पीछे भी रहस्य है। यदि थाली में आहार लेवें तो फिर बैठकर ही लेना होगा, खड़े-खड़े आहार थाली में सम्भव नहीं है। दूसरे थाली में उनकी इच्छा के विरुद्ध भी अधिक या अनपेक्षित सामग्री रखी जा सकती है। जूठा छोड़ना उचित न होने से खाने में अधिक आ सकता है। हाथ में यह सम्भव नहीं है। यदि किसी ने कदाचित्

रख भी दिया तो कितना रखेगा ? बस एक ग्रास ही न ? पर थाली में तो चाहे कितना रखा जा सकता।

भोजन में जो स्वाधीनता हाथ में खाने में है, वह स्वाधीनता थाली में खाने में नहीं रहती।

एक बात यह भी है कि उसमें भक्तगण अपने वैभव को प्रदर्शित किए बिना नहीं रहते। यदि महाराज थाली में खाने लगे तो कोई चांदी की थाली में खिलायेगा, कोई सोने की थाली में।

दिगम्बर वीतरागी भगवान की मूर्तियों को भी हम सोने-चांदी, हीरे-जवाहरात से सजाने लगते हैं। यदि दिगम्बर लोग उनके तन पर कोई गहना-कपड़ा नहीं सजा सकते तो उनके परिकर को सजावेंगे। छत्र-चमरों से उन्हें जगमगा देंगे। जिन्हें तुच्छ जानकर वे त्याग कर आये हैं, उन्हीं को उनके चारों ओर सजावेंगे।

रागियों की प्रवृत्तियाँ रागमय ही होती हैं, वैरागी और वीतरागी मुनिराजों को वे वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ कैसे सुहा सकती हैं ? यही रहस्य है, उनके करपात्री होने का।

यह तो आप जानते ही हैं कि मुनिराज जब आहार लेकर वापिस लौटते हैं तो उन्हें आचार्यश्री के समक्ष उपस्थित होकर चर्या के काल में जो भी घटित हुआ हो, वह सब सुनाना पड़ता है। यदि चर्या के काल में मन-वचन-काय की क्रिया में कुछ दोष लग गया हो, तो वह सब भी बताकर प्रायश्चित्त लेना होता है।

भोजन की चर्या के बाद ही यह सब क्यों ?

इसलिए कि आहार के काल में गृहस्थों के समागम की अनिवार्यता है और उनके समागम में दोष होने की संभावना भी अधिक रहती है। इसी बात से अनुमान लगाया जा सकता है कि गृहस्थों का समागम

साधुओं के लिए कितना खतरनाक है ? इसी की विशुद्धि के लिए यह नियम रखा गया है कि आहारचर्या के बाद साधु आचार्यश्री के पास जाकर सब-कुछ निवेदन करें और उनके आदेशानुसार प्रायश्चित्त करें।

इसी बात को ध्यान में रखकर वीतरागी साधुओं को गृहस्थों के समागम से बचने का पूरा-पूरा यत्न करना चाहिए। गृहस्थों का भी कर्तव्य है कि वे भी मुनिराजों को जगत के प्रपंचों में न उलझावें। यदि उन्हें उनका सत्समागम मिल जाता है तो उनसे वीतरागी चर्चा ही करना चाहिए।

मुनिराज उद्दिष्ट आहार के त्यागी होते हैं। उनकी वृत्ति को मधुकारी वृत्ति कहा गया है। जिसप्रकार भौंरा या मधुमक्खी जिन फूलों से मधु ग्रहण करती है, रस ग्रहण करती है; वह उसे रंचमात्र भी क्षति न हो जावे इस बात का ध्यान रखती हैं। वे पुष्प का रस लेते समय इतना ध्यान रखते हैं कि उस पर अपना वजन भी नहीं डालते, भिनभिनाते रहते हैं, उड़ते रहते हैं और अत्यन्त बारीक अपने डंक से इसप्रकार रस चूसते हैं कि पुष्प का आकार भी नहीं बिगड़ता, वह एकदम जैसा का तैसा बना रहता है।

उसीप्रकार मुनिराज भी, जिसके यहाँ आहार लेते हैं, उसे किसी भी प्रकार की पीड़ा पहुँचे, ऐसा नहीं होने देते। अत: उनके उद्देश्य से बनाये गये आहार को ग्रहण नहीं करते। गृहस्थ ने जो आहार स्वयं के लिए बनाया, उसमें से ही वह मुनिराज के लिए देवें, वही ग्रहण करते हैं। मुनिराजों के उद्देश्य से बनाये गये आहार में जो आरंभी हिंसा होती है, उसका भागी मुनिराज को बनना होगा; इसकारण मुनिराज नहीं चाहते कि कोई उनके उद्देश्य से आहार बनावें। यही कारण है कि वे उद्दिष्ट आहार के त्यागी होते हैं।[१]"

---

१. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ ५५ से ५८

वस्तुत: बात यह है कि गृहविरत मुनिराज गृहस्थों के समागम में क्यों रहना चाहेंगे ? यदि उनके समागम में ही रहना होता तो वे गृहस्थी का त्याग ही क्यों करते ? यही रहस्य है हमारे साधु-संतों का वनवासी होने का, गिरि-गुफावासी होने का, पर्वत की चोटियों पर आत्मसाधना करने का और हमारे तीर्थों का पर्वतों की चोटियों पर होने का, निर्जन वन-प्रान्त में होने का।

धीर-वीर साधु-संतों का धर्म तो एकमात्र ध्यान ही है, ध्यान की अवस्था में ही केवलज्ञान होता है, अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। द्रव्यसंग्रह में तो यहाँ तक लिखा है कि निश्चय और व्यवहार दोनों ही प्रकार का मोक्षमार्ग ध्यान में ही प्राप्त होता है।

द्रव्यसंग्रह का मूल कथन इसप्रकार है –

"दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह।।[1]

निश्चय और व्यवहार दोनों ही प्रकार का मोक्षमार्ग ध्यान में ही प्राप्त होता है। इसलिए हे मुनिराज आप लोग प्रयत्नपूर्वक ध्यान का अभ्यास करें।"

यह ध्यान एकान्त में ही होता है। इसकी सिद्धि के लिए ही साधुजन, घर-परिवार छोड़कर वन-जंगल में रहते हैं; पर आजकल कुछ लोग औरों की देखा-देखी ध्यान भी जोड़े से करने लगे हैं, वातानुकूलित हाल में बैठकर सामूहिक रूप से करने लगे हैं।

अरे भाई ! यदि ध्यान की सिद्धि वातानुकूलित कमरों में परिवार के साथ बैठकर होती होती तो हमारे तीर्थंकरों के घर में क्या कमी थी ?

क्या उनके यहाँ एक भी वातानुकूलित कमरा न होगा ?

---

१. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ ५५ से ५८

अरे भाई ! शान्तिनाथ तो तीर्थंकर के साथ-साथ चक्रवर्ती भी थे; उनके क्या कमी थी ? वैसे सभी तीर्थंकर राजकुमार ही थे, राजा ही थे; किसी को कोई कमी नहीं थी, पर ध्यान की सिद्धि के लिए वे जंगल में गये, घर-परिवार छोड़कर गये, पर्वत की चोटियों पर गये; जिसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ये हमारे सम्मेदशिखर जैसे तीर्थक्षेत्र।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि वातानुकूलित कमरे में गर्मी न लगने से ध्यान में मन लग जाता है, मक्खी-मच्छर नहीं होने से कोई बाधा नहीं होती है; पर भाई साहब गर्मी-सर्दी की परवाह करनेवाले ध्यान नहीं करते। हमारे मुनिराजों का ध्यान तो सिंह जैसे क्रूर प्राणी भी भंग न कर सके और आप मक्खी-मच्छरों के कारण ध्यान नहीं कर पाते हैं।

ध्यान के लिए निरापद स्थान वातानुकूलित घर नहीं, प्रकृति की गोद में बसे घने जंगल हैं, पर्वत श्रेणियाँ हैं। वातानुकूलित हॉल में बैठकर आजतक किसी को भी केवलज्ञान हुआ हो तो बताइये, पर ऐसे अनन्त सिद्ध हो गये हैं, जिन्हें सम्मेदशिखर जैसे पर्वतों की चोटियों पर केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है।

इन वातानुकूलित कमरों में बैठनेवालों को तो इसका भी पता नहीं है कि ध्येय क्या है, ध्यान किसका करना है ? बिना ध्येय के स्पष्ट हुए किसी को ध्यान नहीं होता। न तो इन्हें ध्येय का पता है और न ही उसे समझने का प्रयास ही चालू है। बस, बिना कुछ सोचे-समझे ध्यान चल रहा है।

ध्यान भी आज एक फैशन-सा बनता जा रहा है, विलासिता की वस्तु बनता जा रहा है। आज का ध्यान नवधनाड्यों की लक्जरी वस्तु बन कर रह गया है। योग, प्राणायाम और ध्यान के नाम पर ये लोग रिलेक्स करते हैं, तनाव कम करते हैं। इन्होंने ध्यान को तनाव कम करने का साधन बना लिया है, रक्त-चाप कम करने का साधन मान लिया है।

जो ध्यान केवलज्ञान का साधन था, वह आज नवधनाड्यों के तनाव को कम कर रहा है – ध्यान का इससे बड़ा परिहास और क्या होगा ?

आज ध्यान का उपयोग दवा के रूप में किया जा रहा है, शारीरिक स्वास्थ्य के लिए किया जा रहा है। जिस शरीर में वैराग्य उत्पन्न करने के लिए, एकत्व तोड़ने के लिए प्रतिदिन पाठ की जानेवाली बारह भावनाओं में से आरम्भ की छह भावनाएँ समर्पित हैं; जिस शरीर की अनित्यता, अशरणता, असारता, भिन्नता और अशुचिता का चिन्तन ध्यान की सिद्धि के लिए धर्मात्माजन निरन्तर करते हैं; आज हम उसी शरीर की मजबूती के लिए ध्यान जैसे पवित्र कार्य का उपयोग कर रहे हैं।

जो ध्यान विकृत आत्मा की चिकित्सा के लिए था, वह आज शरीर की चिकित्सा में लग गया है। इसे हम कलियुग का दोष कहें या हमारे चिरपरिचित अज्ञान का दुष्परिणाम ? जो भी हो, पर इस विषय को ऐसे ही छोड़ देना उचित नहीं है, अपितु इस पर गम्भीरता से विचार किया जाना आवश्यक है।

आज हमारे इन परमपवित्र तीर्थों को भी पिकनिक स्पॉट में बदलने के प्रयास चालू हैं; इन वनप्रान्तों को भी आधुनिकतम नगरों के रूप में परिवर्तित करने के प्रयास चालू हैं या फिर इसप्रकार के नये तीर्थों का विकास किया जा रहा है; जहाँ सब प्रकार की सुख-सुविधायें उपलब्ध हों; पर यह कोई नहीं सोचता कि इन्हें आधुनिकतम सुविधा से युक्त कर देने से इनका मूल स्वरूप ही समाप्त हो जायेगा। यहाँ भी टी.वी. और वी.सी.आर. के प्रवेश से यहाँ की भी शान्ति भंग हो जावेगी।

यदि ऐसा हो गया तो फिर ये स्थान भी आत्मसाधना के स्थान न रहकर अन्य स्थानों के समान साधारण स्थान होकर रह जावेंगे।

इनका मौलिक स्वरूप कायम रखने की महती आवश्यकता है।

हमारे ये तीर्थस्थान वीतरागियों के स्थान हैं, वैरागियों के स्थान हैं, योगियों के स्थान हैं; उन्हें भोगियों के स्थान बनाना उचित नहीं है, उन्हें भोगियों के स्थानों के समान सजाना भी उचित नहीं है। उन्हें साफ-सुथरा रखना और जीवनोपयोगी आवश्यकताओं से सम्पन्न करना अलग बात है; पर वहाँ मनोरंजन के भी साधन जुटाना, आमोद-प्रमोद के साधन जुटाना, बाग-बगीचा लगाना, अभक्ष्य-भक्षण के साधन जुटाना तथा टी.वी. और वी.सी.आर. का प्रवेश कदापि ठीक नहीं है।

ये तो संयम से रहने के स्थान हैं, सादा जीवन जीने के स्थान हैं; यहाँ साज-शृंगार करके जाना, असंयमित जीवन जीना – इनकी गौरव महिमा को कम करनेवाला है।

इन्हें तो ध्यान और अध्ययन के केन्द्र बनाना चाहिए। यहाँ तो जैनदर्शन के गहन अध्ययन की व्यवस्था होनी चाहिए। यहाँ तो आध्यात्मिक वातावरण रहना चाहिए, आध्यात्मिक चर्चा-वार्ता होना चाहिए।

इनकी गौरव-महिमा इसी बात में है कि जिसप्रकार की आत्मसाधना हमारे तीर्थंकरों और साधुसंतों ने की है; ये तीर्थस्थान भी वातावरण के माध्यम से आज जन-जन को उसी की प्रेरणा दें।

तीर्थराज सम्मेदशिखर आज भी आधुनिक चकाचौंध से कोसों दूर है और आत्मकल्याण की पावन प्रेरणा देने में पूरी तरह समर्थ है।

इसकी यह पावनता सदा कायम रहे और यह तीर्थराज अनन्त काल तक भव्यजीवों को आत्मकल्याण की पावन प्रेरणा देता रहे – इसी मंगलमय भावना के साथ विराम लेता हूँ। ●

डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल का नाम आज जैन समाज के उच्च कोटि के विद्वानों में अग्रणीय है।

ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी वि. स. 1992 तदनुसार शनिवार, दिनांक 25 मई, 1935 को ललितपुर (उ.प्र.) जिले के बरौदास्वामी ग्राम के एक धार्मिक जैन परिवार में जन्मे डॉ. भारिल्ल शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न तथा एम.ए., पी-एच.डी. हैं। समाज द्वारा महामहोपाध्याय, विद्यावाचस्पति, परमागम विशारद, तत्त्ववेत्ता, अध्यात्म शिरोमणि, वाणीविभूषण, जैनरत्न, विद्यावारिधी और विद्वत् शिरोमणि आदि अनेक उपाधियों से समय-समय पर आपको विभूषित किया गया है।

सरल, सुबोध तर्कसंगत एवं आकर्षक शैली के प्रवचनकार डॉ. भारिल्ल आज सर्वाधिक लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता हैं। उन्हें सुनने देश-विदेश में हजारों श्रोता निरन्तर उत्सुक रहते हैं। आध्यात्मिक जगत में ऐसा कोई घर न होगा, जहाँ प्रतिदिन आपके प्रवचनों के कैसिट न सुने जाते हों तथा आपका साहित्य उपलब्ध न हो। धर्म प्रचारार्थ आप तेईस बार विदेश यात्रायें भी कर चुके हैं।

जैन जगत में सर्वाधिक पढ़े जानेवाले डॉ. भारिल्ल ने अब तक छोटी-बड़ी 62 पुस्तकें लिखी हैं और अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है, जिनकी सूची अन्दर प्रकाशित की गई है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि अब तक आठ भाषाओं में प्रकाशित आपकी कृतियाँ 40 लाख से भी अधिक की संख्या में जन-जन तक पहुँच चुकी हैं।

सर्वाधिक बिक्रीवाले जैन आध्यात्मिक मासिक 'वीतराग-विज्ञान' हिन्दी तथा मराठी के आप संपादक हैं। श्री टोडरमल स्मारक भवन की छत के नीचे चलनेवाली विभिन्न संस्थाओं की समस्त गतिविधियों के संचालन में आपका महत्त्वपूर्ण योगदान हैं।

वर्तमान में आप श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के अध्यक्ष तथा पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के महामन्त्री हैं। अभी हाल ही में आपको राजस्थान विश्वविद्यालय का सीनेटर भी नियुक्त किया गया है।

इसके अतिरिक्त भारत जैन महामण्डल, दिगंबर जैन महासमिति, अ.भा.दि.जैन परिषद् जैसी अनेक संस्थाओं के आप संरक्षक हैं।

डॉ. भारिल्ल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. समयसार : ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका	५०.००	३९. मैं कौन हूँ	७.००
२. समयसार अनुशीलन भाग-१	२५.००	४०. निमित्तोपादान	३.५०
३. समयसार अनुशीलन भाग-२	२०.००	४१. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	५.००
४. समयसार अनुशीलन भाग-३	२०.००	४२. मैं स्वयं भगवान हूँ	४.००
५. समयसार अनुशीलन भाग-४	२०.००	४३. ध्यान का स्वरूप	४.००
६. समयसार अनुशीलन भाग-५	२५.००	४४. रीति-नीति	३.००
७. समयसार का सार	३०.००	४५. शाकाहार	३.००
८. गाथा समयसार	१०.००	४६. भगवान ऋषभदेव	४.००
९. प्रवचनसार : ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी टीका	५०.००	४७. तीर्थंकर भगवान महावीर	२.५०
१०. प्रवचनसार अनुशीलन भाग-१	३५.००	४८. चैतन्य चमत्कार	४.००
११. प्रवचनसार अनुशीलन भाग-२	३५.००	४९. गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
१२. प्रवचनसार अनुशीलन भाग-३	२५.००	५०. गोम्मटेश्वर बाहुबली	२.००
१३. प्रवचनसार का सार	३०.००	५१. वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
१४. नियमसार अनुशीलन भाग-१	२५.००	५२. अनेकान्त और स्याद्वाद	२.००
१५. छहढाला का सार	१५.००	५३. शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर	५.००
१६. मोक्षमार्गप्रकाशक का सार	१५.००	५४. बिन्दु में सिन्धु	२.५०
१७. ४७ शक्तियाँ और ४७ नय	८.००	५५. जिनवरस्य नयचक्रम	१०.००
१८. पंडित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	२०.००	५६. पश्चात्ताप खण्डकाव्य	७.००
१९. परमभावप्रकाशक नयचक्र	२०.००	५७. बारह भावना एवं जिनेन्द्र वंदना	२.००
२०. चिन्तन की गहराइयाँ	२०.००	५८. कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद	२.५०
२१. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	१५.००	५९. शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१.००
२२. धर्म के दशलक्षण	१६.००	६०. समयसार पद्यानुवाद	३.००
२३. क्रमबद्धपर्याय	१५.००	६१. योगसार पद्यानुवाद	०.५०
२४. बिखरे मोती	१६.००	६२. समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
२५. सत्य की खोज	२०.००	६३. प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
२६. अध्यात्म नवनीत	१५.००	६४. द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
२७. आप कुछ भी कहो	१२.००	६५. अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद	३.००
२८. आत्मा ही है शरण	१५.००	६६. अर्चना जेबी	१.५०
२९. सुक्ति-सुधा	१८.००	६७. कुंदकुंदशतक (अर्थ सहित)	१.२५
३०. बारह भावना : एक अनुशीलन	१५.००	६८. शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	१.००
३१. दृष्टि का विषय	१०.००	६९. बालबोध पाठमाला भाग-२	३.००
३२. गागर में सागर	७.००	७०. बालबोध पाठमाला भाग-३	३.००
३३. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	८.००	७१. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-१	४.००
३४. णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	१०.००	७२. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-२	४.००
३५. रक्षाबन्धन और दीपावली	५.००	७३. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-३	४.००
३६. आचार्य कुंदकुंद और उनके पंचपरमागम	५.००	७४. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१	५.००
३७. युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००	७५. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-२	६.००
३८. वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	१५.००		